The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 3 | Issue 7 | July 2025
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

पूंजीवाद का समाजवादी वैश्वीकरण

डॉ० उदय प्रकाश वर्मा

दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.16880121

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Accepted: 30-07-2025

Published: 10-08-2025

Keywords:

पूंजीवाद, भूमण्डलीकरण, जनतंत्र, निजीकरण, उदारीकरण, कल्याणकारी राज्य, स्वतंत्रता एवं सम्प्रभुता आदि।

ABSTRACT

आज के भूमंडलीय यथार्थ को समझने के लिए आज के पूँजीवाद को तथा उसके द्वारा उत्पन्न की जा रही समस्याओं के साथ-साथ स्वयं पूँजीवाद के संकट को भी समझना जरूरी है। पूँजीवाद के विषय में कहा जाता है कि वह निरंतर संकटों में फँसता रहता है, परन्तु स्वयं ही उनसे उबरता भी रहता है इसलिए कुछ व्यक्तियों को पूँजीवाद का संकट कोई विचारणीय वाद नहीं लगता परन्तु वह कितना संकटग्रस्त है, इसका पता चलता है उसकी भविष्य संबंधी चिंताओं से, जिनके चलते एक ओर तो वह भूमंडलीकरण के कारण विश्व को अपने अधीन बनाकर अपना भविष्य सुरक्षित कर लेना चाहता है और दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान तथा तकनीकी के विकास के बल पर अपने अस्थिर आधार को टिकाऊ बनाना चाहता है। अतः प्रश्न उठते हैंः यद्यपि आज का पूँजीवाद संकटग्रस्त है, तो उसका संकट किन रूपों में प्रकट हो रहा है और वह हमें किस प्रकार प्रभावित कर रहा है? पूँजीवाद के अब तक के जो विभिन्न रूप रहे हैं, उनसे आज का पूँजीवाद किन मायनों में भिन्न है और वह आज की दुनिया के सामने ऐसी कौन-सी नयी समस्याएँ पैदा कर रहा है, जिनके समाधान उसके पास नहीं हैं? पुराना पूँजीवाद साम्राज्यवाद के बल पर अपने संकटों का बोझ अपने उपनिवेशों पर डाल देता था। उत्तर-औपनिवेशिक काल में यह प्रक्रिया किस रूप में चलती है? क्या यह सही है कि सोवियत संघ के विघटन के बाद पूँजीवाद विजयी हो गया है और शीतयुद्ध समाप्त हो गया है? क्या अब विश्व एकधुवीय हो गया है? क्या अब विश्व में पूँजीवाद ही चलेगा और उसका कोई विकल्प नहीं है? पूँजीवाद का संकट पूँजीवादी राज्य के संकट के रूप में भी सामने आ रहा है। नव-उदारवाद के चलते कल्याणकारी राज्य को तो तिलांजलि दे ही दी गयी, विकासमूलक राज्य का भी हास हो रहा है। क्या इससे पूँजीवादी जनतंत्र भी खतरे में पड़ गया है? भारत में पूँजीवाद

का विकास उसकी विरोधी शक्तियों द्वारा दी गयी चुनौतियों के बीच हुआ है। इसीलिए देश में जनतंत्र आसानी से स्थापित हो सका और आज भी बना हुआ है। परन्तु 1991 से निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण की नीतियों को अपनाने के बाद पूँजीवाद के समक्ष कोई बड़ी चुनौती नहीं रह गयी है। ऐसी स्थिति में भारतीय जनतंत्र का क्या भविष्य है? निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण की नीतियों के चलते भारतीय पूँजीवाद विकसित देशों के पूँजीवाद का जूनियर साझीदार बनने को विवश हो गया है। इसके लिए यह देश की स्वतंत्रता और संप्रभुता के साथ निरंतर समझौते कर रहा है और निरंतर जन-विरोधी नीतियाँ अपना रहा है। यह भारतीय पूँजीवाद का एक नया विकास है या उसका एक नया संकट? क्या पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा उत्पन्न संकटों का समाधान वर्तमान व्यवस्था में संभव है? यदि नहीं, तो इसकी वैकल्पिक व्यवस्था क्या होगी और किस प्रकार बन सकेगी? प्रस्तुत शोध पत्र इन प्रश्नों के उत्तर देने का एक विनम्र प्रयास है।

पृष्ठभूमिः -

कैसा विरोधाभास है कि समाजवाद का और आर्थिक उदारवाद का बौद्धिक स्रोत एक ही है और वह है एडम स्मिथ का यह विचार कि पूँजीवादी समाज एक स्वतः सक्रिय तथा स्वतः संचालित व्यवस्था है। पहले की समाज व्यवस्थाएँ शासकों या सरकारों द्वारा चलायी जाती थीं, परन्तु स्वतः चलने वाली पूँजीवादी समाज व्यवस्था में शासकों या सरकारों द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप या तो व्यर्थ है, क्योंकि उससे इस व्यवस्था में कोई सुधार या बदलाव नहीं होता, क्योंकि उससे इस व्यवस्था की कार्य-प्रणाली का सामंजस्य नष्ट हो जाता है। एडम स्मिथ का विचार था कि पूँजीवादी व्यवस्था प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलती है और वह एक भली तथा हितकारी व्यवस्था है, क्योंकि उससे "राष्ट्रों की संपदा" बढ़ाने वाली "प्रगति" होती है। अतः एडम स्मिथ और उनके अनुयायियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि स्वतः चलने वाली पूँजीवादी व्यवस्था सदैव चलती रहेगी। अर्थात् पूँजीवाद से पहले के इतिहास का अंत हो चुका है और पूँजीवाद के परे कुछ भी नहीं है।

आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने भी पूँजीवादी समाज को स्वतःचलने वाली व्यवस्था मानते हुए क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय में कहा कि 'अब तक एक इतिहास रहा है, पर अब कोई इतिहास नहीं रहा'। किन्तु उन्होंने इससे एक सर्वथा विपरीत निष्कर्ष निकाला, जो यह था कि स्वतः चलने वाली इस व्यवस्था में कोई 'प्रगति' नहीं होती और 'संपदा' बढ़ती तो है, किन्तु वह समाज के एक ही छोर पर बढ़ती है और दूसरे छोर पर विनाशकारी बनकर लोगों को निर्धन तथा अमानुषिक बनाती है। मार्क्स भी यह मानते थे कि इस व्यवस्था में शासकों या सरकारों के हस्तक्षेप से कोई सुधार या बदलाव नहीं हो सकता, परन्तु इससे उन्होंने यह निष्कर्ष नहीं निकाला कि पूँजीवाद शाश्वत है। इसके विपरीत उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि क्रांति के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का तख्ता पलटकर समाजवाद की एक नयी व्यवस्था बनाना जरूरी है।

समाजवाद की आवश्यकता मार्क्स से पूर्व कई और विचारकों ने भी बतायी थी, किन्तु मार्क्स का समाजवाद 'वैज्ञानिक' इस मायने में था कि उसमें भी हालाँकि क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र को ही अपना प्रस्थान बिंदु बनाया गया था, किन्तु उसमें दूसरे समाजवादों की तुलना में ज्यादा गहराई के साथ उससे जुड़े सवालों को पुनः जाँचा गया था और उनसे भिन्न निष्कर्ष निकाले गये थे। उसमें पूँजीवाद के स्थान पर किसी काल्पनिक समाजवाद को रखकर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं की गयी थी, अपितु पूँजीवाद और समाजवाद की तुलना किसी नैतिक आधार पर करने के बजाय ठोस तर्क और विवेक के आधार पर की गयी थी। यह सही है कि उसमें स्वतंत्रता की चाह को मनुष्य की एक प्रदत्त या सहज वृत्ति माना गया था, किन्तु उसमें यह दिखाया गया था कि यह चाह मनुष्य को आवश्यक रूप से पूँजीवाद के परे ले जाती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद को कोई ऐसा सिद्धांत कदापि नहीं समझा जाना चाहिए, जो यह बताता हो कि समाजवाद का आना अपरिहार्य है। स्वतंत्रता की चाह पूँजीवादी व्यवस्था में पूरी नहीं हो सकती, ऐसा कहने का तात्पर्य यह कहना नहीं है कि समाजवाद का आना अपरिहार्य है।

परन्तु मार्क्स का तर्क यहीं तक नहीं रहता। वह और भी गहराई में जाता है। पूँजीवाद मानवीय स्वतंत्रता का शत्रु सिर्फ इसलिए नहीं है कि वह स्वतः स्फूर्त ढंग से स्वतः को बनाये और चलाये रखने के लिए समाज के एक छोर पर संपदा पैदा करता है और दूसरे छोर पर कंगाली; वह मानवीय स्वतंत्रता का शत्रु सिर्फ इसलिए भी नहीं है कि उसके अंतर्गत मनुष्यों को गैर-बराबरी का, असुरक्षा का और अपनी न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधनों के अभाव का सामना करना पड़ता है। ये मनुष्य में उस स्वतंत्रता की चाह पैदा करने और उसके लिए प्रयास करने को प्रेरित करने वाली परिस्थितियाँ हैं, जो उसमें निहित सृजनशील संभावनाओं को चरितार्थ करने के लिए जरूरी हैं, किन्तु वे संभावनाएँ पूँजीवाद के अंतर्गत चरितार्थ नहीं हो सकतीं। पूँजीवाद मानवीय स्वतंत्रता का शत्रु इसलिए है कि उसके अंतर्गत मानव जाति उस स्वतः सक्रिय तथा स्वतः संचालित व्यवस्था के जाल में फंसकर रह जाती है, जिसमें व्यक्ति बाह्य शक्तियों द्वारा की जाने वाली बल पूर्वक की वस्तु बन जाते हैं। यह बात केवल मजदूरों के विषय में नहीं, अपितु पूँजीपतियों के विषय में भी सही है, जिन्हें मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रथम खंड में 'मूर्तिमान पूँजी' कहा है। अर्थात् पूँजीवाद में पूँजीपति भी मनुष्य नहीं रहते, अपितु पूँजी के ऐसे अभिकर्ता बन जाते हैं, जिनके माध्यम से पूँजी की अंतर्निहित प्रवृत्तियाँ चरितार्थ होती हैं।

इस प्रकार मार्क्सवाद की यह स्थापना अकाट्य रूप से सही है कि पूँजीवाद एक स्वतः प्रवर्तित या स्वतः चलने वाली आर्थिक व्यवस्था है, जिसकी आंतरिक कार्य-प्रणाली उसे एक खास दिशा में आगे बढ़ाती है; उसे एक विशेष प्रकार के विकास की ओर ले जाती है; और उसकी गति, दिशा तथा परिणति किसी के भी द्वारा सचेत रूप से चाही गयी नहीं होती है। यह बात एडम स्मिथ के इस विचार से आगे का विकास है कि पूँजीवाद एक स्वतः सक्रिय तथा स्वतः संचालित आर्थिक व्यवस्था है। इसे 'विकास' इसलिए कह रहा हूँ कि यद्यपि मार्क्सवाद भी पूँजीवाद को एक स्वतः सक्रिय तथा स्वतः संचालित व्यवस्था के रूप में देखता है, तथापि वह कम से कम दो प्रकार से एडम स्मिथ से अपनी भिन्नता प्रकट करता हैः

प्रथम- एडम स्मिथ ने पूँजीवाद की स्वतः सक्रिय तथा स्वतः संचालित व्यवस्था को कुल मिलाकर एक भली तथा हितकारी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया था, जबकि मार्क्स ने ऐसा नहीं किया।

द्वितीय- एडम स्मिथ ने इस व्यवस्था की कार्य-प्रणाली में भाग लेने वाले आर्थिक अभिकर्ताओं को अपनी आंतरिक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से परिचालित बताया था (उदाहरण के लिए, उन्होंने पण्य-वस्तु के उत्पादन को लोगों की 'लेन-देन, अदला-बदली और विनिमय की मनोवृत्ति' पर आधारित बताया था), जबकि मार्क्स ने उन्हें अवैयक्तिक बलपूर्वक से परिचालित बताया। मार्क्स के अनुसार आर्थिक अभिकर्ताओं के रूप में व्यक्तियों को किसी मालिक या राजा के द्वारा विवश नहीं किया जाता, अपितु वे पूँजीवादी व्यवस्था के ही द्वारा विवश किये जाते हैं। संक्षेप में, वे जो कुछ करते हैं, स्वेच्छा से और स्वतंत्रतापूर्वक नहीं, अपितु व्यवस्था के तर्क से निकलने वाली शर्तों से विवश होकर करते हैं। वे व्यवस्था को चलाते नहीं, अपितु व्यवस्था द्वारा चलाये जाते हैं। (इसलिए मार्क्स के अनुसार पूँजीपति भी, जो व्यवस्था को चलाने वाले प्रतीत होते हैं, महज 'मूर्तिमान पूँजी' हैं, जिनके माध्यम से पूँजी अंतर्निहित प्रवृत्तियाँ चरितार्थ होती हैं।) पूँजीवादी व्यवस्था में मालिक हों या मजदूर, दोनों ही पूँजी के उपयोग की वस्तु बन जाते हैं और उनका ऐसी 'वस्तु बन जाना' ही पूँजीवाद के स्वतः प्रवर्तित होने का मूलाधार है।

इस मार्क्सवादी प्रस्थापना के आधार पर ही इस प्रश्न का तर्कपूर्ण उत्तर दिया जा सकता है कि समाजवाद क्यों जरूरी है; अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था के परे जाना क्यों जरूरी है। दूसरे शब्दों में ऐसा प्रत्येक सिद्धांत, जो समाजवाद की आवश्यकता के तर्क को खण्डित करता है, जो पूँजीवाद के परे जाने की आवश्यकता से मना करता है, जो यह मानता है कि पूँजीवाद को 'सुधारकर' एक मानवीय व्यवस्था बनाया जा सकता है, वस्तुतः इस प्रस्थापना को खारिज करने पर ही आधारित हो सकता है कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वतःही चलने वाली व्यवस्था है। चूंकि ऐसा 'सुधार' राज्य के जरिये ही किया जा सकता है, इसलिए समाजवाद की जरूरत से इनकार करने वाले प्रत्येक तर्क के पीछे यह विश्वास अवश्यंभावी है कि राज्य का हस्तक्षेप पूँजीवादी व्यवस्था के बुनियादी चरित्र को बदल सकता है; अर्थात् यह व्यवस्था ऐसी धातु की बनी है, जिसे राज्य का हस्तक्षेप मनचाहे रूप में ढाल सकता है।

अतः स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता हैः यदि हम जानते हैं कि राज्य पूँजीवादी व्यवस्था में हस्तक्षेप कर सकता है और उसकी कार्य-प्रणाली को मनचाहे रूप में ढाल सकता है, तो हम पूँजीवाद को स्वतःचलने वाली व्यवस्था के रूप में कैसे देख सकते हैं? इस संदर्भ में तीन तर्क आवश्यक है-

पहला तर्क, राज्य सदैव ही पूँजीवादी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। राज्य के हस्तक्षेप के बिना कभी कोई पूँजीवाद नहीं चला। यहाँ तक कि जो तथाकथित 'अहस्तक्षेप' वाला पूँजीवाद कहलाता है, जिसके विषय में माना जाता है कि वह राज्य के हस्तक्षेप से पहले का पूँजीवाद था, वह भी वस्तुतः राज्य के हस्तक्षेप पर ही आधारित था, क्योंकि राज्य का हस्तक्षेप न केवल निजी संपत्ति की तथा पूँजीवादी खेल के नियमों की रक्षा के लिए जरूरी था, अपितु सबसे अधिक तो वह उपनिवेशवाद की उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जरूरी था, जिस पर यह तथाकथित 'अहस्तक्षेप' वाला पूँजीबाद भी टिका हुआ था। संक्षेप में, पूँजीवाद की अंतर्निहित प्रवृत्तियाँ राज्य से रहित किसी शून्य में नहीं, अपितु राज्य के समर्थन के आधार पर ही स्वयं को चरितार्थ करती हैं।

दूसरा, ऐसी स्थितियों में भी, जब राज्य इन अंतर्निहित प्रवृत्तियों के विरुद्ध कार्य करता है, उसके कार्य इन प्रवृत्तियों को चरितार्थ होने से अधिकाधिक सीमा तक अस्थायी तौर पर ही रोक सकते हैं। ये प्रवृत्तियाँ सदैव बनी रहती हैं, सदैव अपना काम करती रहती हैं; और यदि अस्थायी तौर पर बाधित होती भी हैं, तो पुनः और भी शक्ति के साथ उभरकर सामने आती हैं।

किन्तु तीसरा तर्क यह है कि यद्यपि वे फिर से उभरकर सामने नहीं आतीं, अर्थात् पूँजीवाद की अंतर्निहित प्रवृत्तियों के विरुद्ध राज्य का हस्तक्षेप जारी रहता है और उन्हें लगातार बाधित करता रहता है, तो पूँजीवादी व्यवस्था चल ही नहीं सकती। तब उसका सामंजस्य छिन जाता है और वह क्षतिग्रस्त हो जाती है। यही कारण है कि पूँजीवाद की अंतर्निहित शक्तियों के विरुद्ध उसी राज्य का हस्तक्षेप सफल हो सकता है, जो पूँजीवाद को ही अतिक्रमित करना चाहता हो या उसके पार जाने का इच्छुक हो। इसी तरह, जहाँ तक राज्य पूँजीवाद के परे जाने की संभाव्यता से डरता है और इसी कारण जहाँ तक उसे यह भय सताता है कि उसके हस्तक्षेप से पूँजीवादी व्यवस्था बिगड़ जायेगी, वहीं तक उसके द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप सीमित हो जाता है।

यही कारण है कि राज्य का व्यवस्था को प्रभावित करने वाला हस्तक्षेप पूँजीवाद के अत्यंत गहरे संकट के समय ही संभव हो पाता है, जैसा कि महामंदी तथा उसकी फासीवाद और दूसरे विश्व युद्ध जैसी परिणतियों के समय में संभव हुआ था। हालाँकि कींस ने कल्पना की थी कि इसके बाद से पूँजीवाद में राज्य का हस्तक्षेप एक स्थायी चीज होगा, अर्थात् पूँजीवाद 'कल्याणकारी राज्य' के आधार ही चल पायेगा, किन्तु हम देख रहे हैं कि राज्य के हस्तक्षेप के उस दौर को भी आखिरकार खत्म होना ही पड़ा। इससे पूँजीवादी समाज में राज्य के हस्तक्षेप की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

संक्षेप में, पूँजीवाद की अंतर्निहित प्रवृत्तियों पर प्रतिबंध अस्थायी रूप से ही की जा सकती है। उन्हें राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा स्थायी रूप से नकारा नहीं जा सकता। अतः राज्य के हस्तक्षेप की संभावना का होना इस तथ्य को सिद्ध नहीं कर सकता कि पूँजीवाद स्वतः चलने वाली व्यवस्था है और उसकी अंतर्निहित प्रवृत्तियों से पार पाने का एक ही उपाय है कि पूँजीवाद के परे जाकर उसकी जगह समाजवाद की सर्वथा भिन्न व्यवस्था की स्थापना की जाये।

समाजवाद को पूँजीवाद से सर्वथा भिन्न व्यवस्था कहने का तात्पर्य यह है कि वह पूँजीवाद के अंतर्गत या पूँजीवाद को किसी रूप में बनाये रखते हुए नहीं बनायी जा सकती और उसे बनाने के लिए पूँजीवाद के परे जाना ही होगा। यह कल्पना करना कि लाभ कमाने वाले पूँजीपतियों के न रहने पर और उत्पादन के साधनों पर सबका अधिकार हो जाने पर यही व्यवस्था उचित रूप से चलने लगेगी और यह विचार करना तो और भी गलत है कि पूँजीवादी व्यवस्था को राज्य के हस्तक्षेप से सुधारा या बदला जा सकता है। ऐसा सोचने के पीछे यह मान्यता काम करती है कि पूँजीवादी व्यवस्था को पूँजीपति चलाते हैं और उसे चलाने के लिए वे राज्य की दमनकारी शक्ति का प्रयोग करते हैं। यह मान्यता पूँजीपतियों को इस व्यवस्था का 'सब्जेक्ट' (कर्ता) बना देती है, जबकि मार्क्सवाद यह दिखाता है कि इस व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति 'कर्ता' नहीं होता, अपितु सभी व्यक्ति इस व्यवस्था के 'एजेंट' (अभिकर्ता) होते हैं। इस प्रकार वे वास्तव में 'व्यक्ति' न रहकर व्यवस्था के काम की 'वस्तु' बन जाते हैं।

पूँजीवाद के अंतर्गत वैयक्तिक आर्थिक अभिकर्ताओं का 'वस्तुकरण' बड़े ही महत्त्व का तथ्य है, जिसके कई निहितार्थ होते हैं। पहला तो यह कि पूँजीवाद के अंतर्गत व्यक्तियों का चरित्र दोहरा होता है; वे अर्थव्यवस्था में तो 'वस्तु' होते हैं, अर्थात् ऐसे अभिकर्ता, जिनके द्वारा व्यवस्था की अंतर्निहित प्रवृत्तियों अपना कार्य करती हैं, परन्तु साथ ही राज्य की व्यवस्था में वे, नाम मात्र 'कर्ता' होते हैं, जो अपने मताधिकार के द्वारा उस व्यवस्था को बनाते हैं। किन्तु 'वस्तुकरण' का दूसरा निहितार्थ यह है कि राज्य की व्यवस्था में उनकी 'कर्ता' वाली भूमिका आंतरिक रूप से निरुद्ध होती है-न केवल प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले उन विभिन्न रूपों में, जिन्हें सब जानते हैं, अपितु पूँजीवाद में राज्य के हस्तक्षेप की उन सीमाओं के चलते संरचनात्मक रूप में भी, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सही अर्थों में 'कर्ता' वाली भूमिका में थे तभी आ सकते हैं, जब राज्य पूँजीवाद के भिन्न की वैकल्पिक व्यवस्था की दिशा में आगे बढ़ना चाहता हो ।

तीसरे, उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि पूँजीवाद के अंतर्गत जनतंत्र मूलतः सीमित होता है-केवल इस अर्थ में नहीं कि गरीब और भूखे लोग दृढ़तापूर्वक अपने जनतांत्रिक अधिकार का दावा नहीं कर सकते, अपितु इस अधिक बुनियादी अर्थ में भी कि पूँजीवाद के अंतर्गत व्यक्ति अपनी 'वस्तु' वाली भूमिका से बाहर कभी निकल ही नहीं पाते। अर्थव्यवस्था में तो उनकी 'कर्ता' वाली कोई भूमिका होती ही नहीं और राज्य व्यवस्था में 'कर्ता' वाली भूमिका वे तभी निभा सकते हैं, जब वे राज्य के द्वारा उस भूमिका को निभाने में समर्थ हों किन्तु पूँजीवाद के अंतर्गत राज्य को इतना सीमित कर दिया जाता है कि वह व्यक्तियों को 'कर्ता' वाली भूमिका निभाने में समर्थ बना ही नहीं सकता। इस प्रकार पूँजीवाद के अंतर्गत व्यक्ति मात्र 'वस्तु' बने रहने की विवशता से कभी उबर ही नहीं पाते।

चौथा तर्क यह है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और पूँजीवाद परस्पर विरोधी हैं। यह बात विरोधाभासी है, क्योंकि पूँजीवादी समाज को व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा वाला समाज माना जाता है, जिसमें व्यक्ति सचमुच व्यक्ति बनता है, जिसमें व्यक्तिगत प्रतिभा निर्बंध होकर खुलती और खिलती है, जबकि पूँजीवाद से पहले की समस्त समाज व्यवस्थाओं के विषय में ही नहीं, अपितु समाजवाद के विषय में भी यह माना जाता है कि उसमें व्यक्ति 'समुदाय' के अचल भार के नीचे दबकर रह जाता है। किन्तु तथ्य यही है कि पूँजीवाद में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं होती और इसका कारण यही है कि पूँजीवादी समाज व्यक्ति को 'वस्तु' बना देता है और 'वस्तु' स्वतंत्र नहीं होती। चूँकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता 'वस्तुकरण' से मुक्त होकर ही पायी जा सकती है, इसलिए वह व्यक्ति को वस्तु बनाने वाली पूँजीवादी व्यवस्था से पृथक जाकर ही पायी जा सकती है।

पाँचवां और अंतिम तर्क यह है कि राज्य के हस्तक्षेप पर लगे प्रतिबंधों के चलते पूँजीवादी समाजों में राजनीतिक क्रियाकलाप सीमित हो जाते हैं और इससे एक प्रक्रिया शुरू होती है, जिसे 'राजनीति का ध्वंस' कहा जा सकता है। चूँकि राजनीतिक दल राज्य के हस्तक्षेप पर लगे प्रतिबंधों को आत्मसात कर लेते हैं, इसलिए सभी राजनीतिक दलों का चरित्र लगभग एक-सा हो जाता है और जनता के पास उनमें से चुनने के लिए विशेष कुछ नहीं रहता। यद्यपि संयोग से वे चुनाव के पहले एक-दूसरे से भिन्न कार्यक्रम लेकर आते भी हैं, तो चुनाव के बाद वह भिन्नता समाप्त हो जाती है। विजयी होकर सत्ता में आने वाले राजनीतिक दल का व्यवहार वैसा ही होता है, जैसा उसके विरोधी दलों का सत्ता में आने पर होता। संक्षेप में, पूँजीवादी जनतंत्र में जनता को चुनने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है, जिससे राजनीति में उसका कोई प्रभावी हस्तक्षेप असंभव

हो जाता है। चूंकि चुनने का प्रभावी अधिकार ही जनतंत्र का सार है, इसलिए जनता को इस अधिकार से वंचित कर दिये जाने का अर्थ है जनतंत्र का क्षीण हो जाना।

इसका अर्थ यह भी है कि पूँजीवादी जनतंत्र में जनगण 'कर्ता' की भूमिका नहीं निभा पाते, केवल 'वस्तुओं' की भूमिका निभाने वाले ही बनकर रह जाते हैं। अतः यह विचार अर्थशास्त्र के क्षेत्र की स्वतः प्रवृत्ति और राजनीति के क्षेत्र के क्रियाकलाप के बीच के विवाद का नहीं, अपितु अर्थशास्त्र द्वारा राजनीति को हांके जाने का है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र की स्वतःप्रवृत्ति राजनीति के क्षेत्र के सार्थक क्रियाकलाप को नकारकर वास्तव में उस प्रामाणिक राजनीति को ही नकारती है, जिसका सार है प्रतिस्पर्द्धी राजनीतिक कार्यक्रमों में से चुनने का अधिकार। यही वह प्रक्रिया है, जिसे ऊपर "राजनीति का ध्वंस" कहा गया है। यह सत्य है कि कभी-कभी राजनीतिक क्षेत्र के प्रतिस्पर्धी कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण भेद दिखायी पड़ते हैं, जैसे नव-फासीवादी और उदार पूँजीवादी में, किन्तु इन भेदों से भी आर्थिक क्षेत्र पर कोई असर नहीं पड़ता। संक्षेप में, यदि राजनीति में चुनने के लिए कुछ होता भी है, तो उसका अर्थव्यवस्था पर कोई असर नहीं पड़ता, जो अपने अंतर्निहित तर्क से चलती रहती है।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था के गुणों का जो वर्णन पारंपरिक रूप से किया जाता है, वह मिथ्या सिद्ध होता है, क्योंकि उनमें से कोई भी गुण-जैसे जनतंत्र, राजनीतिक चयन, व्यक्तिगत 'कर्तव्य' और इसीलिए स्वतंत्रता- इस व्यवस्था में नहीं पाया जाता और इसका बुनियादी कारण यह है कि पूँजीवादी समाज में अर्थशास्त्र राजनीति को चलाता है और उस अर्थव्यवस्था की पहचान होती है स्वतः प्रवृत्ति, जिसके मूल में होता है व्यक्ति का 'वस्तुकरण'।

यहां से इस शोध पत्र में समाजवाद पर विचार किया गया है। समाजवाद का अर्थ सारतः यह है कि आर्थिक व्यवस्था की 'स्वतःप्रवृत्ति' से सदैव भिन्नता रही है। यह कार्य एक ओर स्वामित्व की व्यवस्था का और दूसरी ओर राज्य की प्रवृत्ति का रूपांतरण करके किया जा सकता है। स्वामित्व की व्यवस्था के रूपांतरण का अर्थ है कि स्वामित्व निजी नहीं, सामाजिक होगा और राज्य की प्रवृत्ति के रूपांतरण का अर्थ है कि वह समाज की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने में सक्षम होकर अर्थव्यवस्था को सामाजिक उद्देश्यों के लिए संचालित करेगा। पूँजीवादी व्यवस्था में पण्यवस्तुओं का उत्पादन होता है, जो पूर्ण अर्थव्यवस्था को बलपूर्वक से अनुशासित करने वाली एक बाहरी शक्ति बनकर प्रत्येक वस्तु को पण्यवस्तु में बदल देता है। यह मनुष्यो को भी 'वस्तु' बना देता है। समाजवाद सबसे पहले अर्थव्यवस्था को वांछित रूप में ढालने योग्य बनाता है और राज्य को, जिसके द्वारा सामाजिक स्वामित्व का निष्पादन किया जाता है, इस योग्य बनाता है कि वह सामाजिक प्राथमिकताओं के अनुसार अर्थव्यवस्था को ढाल सके। समाजवाद इसी तरह स्वतः सक्रिय और स्वतः संचालित पूँजीवादी व्यवस्था का रूपांतरण करता है।

इस प्रकार समाजवाद में राज्य समाज के ऊपर और उससे अलग खड़ी हुई कोई ऐसी वस्तु नहीं रहता, जिसे पूँजीपतियों का एक प्रभुत्वशाली वर्ग अपने हित में प्रयोग कर लेता है। समाजवाद में राज्य न तो समाज से अलग और उसके ऊपर खड़ी हुई कोई चीज होता है और न इतना अपारदर्शी कि समाज उसकी कारगुजारियों को स्पष्ट रूप से देख ही न सके। इसके विपरीत समाजवाद में राज्य समाज से सीधे प्रभावित होता है और इसीलिए वह प्रामाणिक रूप से 'जनतांत्रिक' होता है। समाजवाद में राज्य आरंभ में समाज का एक अंग होता है और फिर उत्तरोत्तर स्वयं को समाज में इस तरह घुला देता है कि समाज में उसके इस तरह घुल जाने की प्रक्रिया को 'राज्य का मुरझाकर खत्म हो जाना' ठीक ही कहा गया है।

किन्तु वर्तमान में समाजवाद का जो हाल हो चुका है और पूँजीवाद जिस तरह कींस की 'कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा को त्यागकर बाजारवादी हो चुका है, उसे देखते हुए समाजवादी क्रांति करने का विचार क्या, पूँजीवादी जनतंत्र में भी जनता का सक्रिय हो सकना कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। भारत जैसे देशों में तो जनतंत्र के विरुद्ध ऐसे प्रयास हो रहा है, जिसके द्वारा जनता की राजनीतिक सक्रियता को खत्म ही कर देने के प्रयास किये जा रहे हैं। (इसका एक उदाहरण यह है कि जनता के प्रति जवाबदेह विधायिका को कमजोर बनाते हुए न्यायपालिका को मजबूत बनाया जा रहा है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में जनता के प्रति जवाबदेह नहीं होती।) आज के पूँजीवाद का जनतंत्र विरोधी स्वरूप जनतंत्र की उत्तरोत्तर क्षीण करने के निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता हैः-

पहला; राज्य को ऐसा निर्जीव बना देना कि नौकरशाही तथा सशस्त्र बल ही उसके उपकरण नजर आयें और जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें उत्तरोत्तर शोभा की वस्तु बनती जायें।

दूसरा; जनता को एथनिक, भाषाई, धार्मिक आदि आधारों पर विभिन्न समूहों में बॉट देना या व्यक्तियों को इतना एकाकी और अलग-थलग कर देना कि वे कोई सामूहिक क्रियाकलाप करने में असमर्थ हो जायें।

तीसरा; राजनीतिक दलों को इस प्रकार एक-सा बना देना कि जनगण उसमें से कोई सार्थक चुनाव कर ही न सकें। उदाहरण के लिए, हमारे यहाँ प्रत्येक राजनीतिक दल 'विकास' की बात करता है, जिसका अर्थ होता है पूँजीवादी विकास। इसके चलते सत्ता में आने वाले विभिन्न दल पूँजीपतियों के पक्ष में जाने वाली नीतियाँ ही अपनाते हैं।

चौथा; जनगण में असुरक्षा की भावना पैदा करना, जिससे उनमें एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा हो जाये और वे मिल-जुलकर कोई सार्थक हस्तक्षेप राज्य की व्यवस्था में न कर सकें। इससे शासक वर्ग को एक लाभ यह भी होता है कि वह यथास्थिति को बनाये रखने के लिए हिंसा का सहारा लेने के लिए स्वतंत्र हो जाता है। (चूँकि पूँजीवादी समाज के अंदर या उसकी परिधि पर पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध किसी न किसी रूप में सदैव होता रहता है, इसलिए ऐसी असुरक्षा लोगों में पैदा करना कभी मुश्किल नहीं होता। प्रतिरोध करने वाले एक हिस्से को राक्षसी रूप में प्रचारित करके जनता दूसरे हिस्से को असुरक्षित बना देना सदैव संभव होता है।)

इस प्रकार जनतंत्र को क्षीण करने का उद्देश्य एक ही होता है कि व्यक्ति 'कर्ता' की भूमिका में न आ सकें और 'वस्तु' ही बने रहें, ताकि पूँजीवादी व्यवस्था चलती रहे। दूसरी ओर समाजवाद में जनतंत्र का होना एक अनिवार्य शर्त है। समाजवाद में जनतंत्र नहीं होता, या समाजवाद जनतंत्र-विरोधी होता है, यह पूँजीवादी प्रचार है। समाजवाद का उद्देश्य होता है पूँजीवादी समाज में 'वस्तु' बना दिये गये लोगों को पुनः 'कर्ता' की भूमिका में लाना और यह उद्देश्य जनतंत्र के जरिये ही पूरा हो सकता है। अतः सच्चा जनतंत्र समाजवाद में ही हो सकता है। समाजवाद ही ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है, जिनमें जनतंत्र पूरी तरह फल-फूल सके। जनतंत्र का पूरी तरह फलना-फूलना ही समाजवाद है।

यह दावा कि समाजवाद और जनतंत्र साथ-साथ नहीं चल सकते, अधिकांशतः भूतपूर्व समाजवादी देशों में जो हुआ, उसके आधार पर किया जाता है। अतः उस अनुभव के विषय में संक्षिप्त चर्चा जरूरी है।

पुराना समाजवाद क्रांतिकारी कार्यसाधकता के परिणामस्वरूप आया था। वह युद्ध द्वारा उत्पन्न किये गये अवसर का लाभ उठाते हुए आया था। वह एक अपेक्षाकृत पिछड़े हुए देश में आया था और जैसी की आशा थी, वह अन्य देशों में फैला भी नहीं। फैला भी, तो अधिक उन्नत देशों में नहीं, अपितु रूस से भी ज्यादा पिछड़े हुए देशों में फैला। फिर उसके आते ही उसे घेर लिया गया, अलग-थलग कर दिया गया और उसे अपना अस्तित्व बचाने के लिए अंत तक स्वयं से बड़ी ताकतों से लड़ना पड़ा। वह निरंतर युद्ध की स्थिति में रहा।

इस प्रकार उस समाजवाद ने दुनिया में अलग-थलग पड़ जाने की स्थिति में, शत्रुओं द्वारा-और विशेष रूप से नात्सी जर्मनी द्वारा घेर लिये जाने की स्थिति में, अपनी उत्पादक शक्तियों का विकास करने की हताशायुक्त स्थितियों में और इसी कारण से अपने किसानों को अंसतुष्ट कर लेने की स्थिति में सोवियत राज्य की राजनीतिक संस्थाएँ खड़ी की थीं। इन स्थितियों में जो समाजवाद बना, यह 'सर्वहारा की तानाशाही' के बजाय 'पार्टी की तानाशाही' वाला समाजवाद था। यह 'रूसी मॉडल' वाला समाजवाद वह समाजवाद नहीं था, जिसकी परिकल्पना लेनिन के नेतृत्व में हुई क्रांति में की गयी थी। उस परिकल्पना में राज्य को सर्वहारा वर्ग में घुल जाना था, उसे मजदूरों का एक संघ बन जाना था, उसे नौकरशाही वाले और हृदयहीन पूँजीवादी राज्य से भिन्न वास्तव में जनता का अपना राज्य बनना था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। जो हुआ, वह यह कि सोवियत राज्य के नाम पर एक अत्यंत केंद्रीयता वाली पार्टी की तानाशाही स्थापित हो गयी।

तथापि पुराने समाजवाद ने पूँजीवाद की 'स्वतः प्रवृत्ति' पर विजय पायी, पूँजीवादी 'वस्तुकरण' की समस्या से मुक्ति पायी, नागरिकों को पूर्ण रोजगार दिया और ऐसा विशाल कल्याणकारी राज्य स्थापित किया, जैसा की संसार ने कल्पना नही की थी। किन्तु उसने एक नये ही ढंग के 'वस्तुकरण' की शुरूआत की। उसने स्वामित्व का स्वरूप तो बदला यानी निजी स्वामित्व को राज्य के स्वामित्व में बदला किन्तु यह नहीं देखा कि इस प्रक्रिया में व्यक्ति 'कर्ता' नहीं, अपितु 'वस्तु' ही बन रहे हैं। समाजवादी समाज में व्यक्ति 'कर्ता' वाली भूमिका जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवहार के द्वारा ही निभा सकते हैं, किन्तु उसने उनकों अराजनीतिक बनाया। व्यक्तियों का अराजनीतीकरण उन्हें 'कर्ता' वाली भूमिका में कभी नहीं आने दे सकता। अतः समाजवादी कहलाने वाले समाज में भी लोगों का वस्तुकरण हुआ। यह नये ढंग का वस्तुकरण था, जो समाजवाद का लक्षण कदापि नहीं हो सकता परन्तु अब जो समाजवाद आयेगा, यह उस पुराने समाजवाद से भिन्न होगा। उसको नये ही आधारों पर स्थापित करना होगा। उसका मुख्य आधार होगा सच्चा जनतंत्र और जनता का राजनीतिक व्यवहार। यह विचारना गैर-जनतांत्रिक है कि राजनीति करना जनता का कार्य नहीं, अतः यह राज्य सरकार का कार्य है। यह तो जनता को राजनीति से दूर रखकर उसे अराजनीतिक बनाना है, जो पूँजीवाद की विशेषता है और जिसे अपनाने की गलती पुराने समाजवाद ने की थी। अब समाजवाद का कार्य ऐसा सच्चा जनतंत्र बनाना होगा, जिसमें सभी व्यक्ति राजनीतिक हों और वास्तव में जनतांत्रिक ढंग का राजनीतिक व्यवहार कर सकें। समाजवाद का अर्थ उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व हो जाना नहीं है। समाजवाद का अर्थ होना चाहिए जनता के राजनीतिक व्यवहार के संदर्भ में सच्चा जनतंत्र स्थापित करना। इस व्यवहार की अपनी कुछ सीमाएँ हो सकती हैं, जैसे संयोगों से या आकस्मिक रूप से उत्पन्न हो जाने वाले संकटों को समझ न पाना। उनकी समझ जनता में पैदा करना क्रांतिकारी पार्टी का काम होता है। जनता को जब आगे बढ़ने का रास्ता न सूझे या आगे सारे दरवाजे बंद दिखायी पड़ें, तब क्रांतिकारी पार्टी उसे रास्ता दिखाने, नये दरवाजों को खोजने और उन्हें खोलने का काम करती है। उसका

काम यह नहीं है कि यह स्वयं को जनता का स्थानापन्न मान ले, जनता को अराजनीतिक बना दे और उसे अपनी तानाशाही की व्यवस्था का पुर्जा मात्र बना दे। इसके विपरीत क्रांतिकारी पार्टी का काम तो यह है कि वह जनता को राजनीतिक बनाये और उसे लगातार आगे बढ़ने का रास्ता दिखाते हुए यह सुनिश्चित करें कि जनता का राजनीतिक व्यवहार बाधित न हो।

इसके लिए न केवल उचित संस्थाओं का होना जरूरी है, जो पार्टी और जनता के बीच तया पार्टी और अन्य पार्टियों के बीच संबंध बनाने में सहायक हों, अपितु जो मार्क्सवाद के प्रति भी सही दृष्टिकोण अपनाती हों। पुराने समाजवाद में मार्क्स को एक संत की उपाधि देकर मार्क्सवाद को एक ऐसी बंद और संपूर्ण व्यवस्था मान लिया गया था, जिसे एक धर्मग्रंथ की तरह पढ़ना और विशेष संदर्भों में सिर्फ 'लागू करना' होता था। पुराने समाजवाद के अनुसार मार्क्सवाद एक 'चीज' था (मार्क्सवाद नहीं, अपितु मार्क्सवाद-लेनिनवाद, क्योंकि लेनिन को भी संत का-सा दरजा देकर योजक चिह्न के द्वारा मार्क्स के समान महान बना दिया गया था), जिसे माओ ने चीन में 'लागू किया' और हमें भारतीय समाज में करना था। मार्क्सवाद के प्रति अपनाया जाने वाला यह अनुचित आचरण आज तक भी बहुत-से वामपंथियों के चिंतन की विशेषता बना हुआ है।

यह आचरण अनुचित इसलिए है कि इसमें 'सिद्धांत' को उसे 'लागू करने' से अलग कर दिया जाता है और यह नहीं देखा जाता कि 'लागू करना' भी सिद्धांत ही है। यह व्यवहार इसलिए भी गलत है कि इन दोनों को अलग करने से मार्क्सवाद को एक बंद और संपूर्ण सिद्धांत मानकर उसके प्रति धार्मिक किस्म का भक्तिभाव अपना लिया जाता है जिससे इसमें ज्ञान की उस प्रगति और मानव जाति द्वारा उसकी उपलब्धि से इनकार किया जाता है, जो मार्क्सवाद को समृद्ध बनाने का स्रोत है। ऐसा आचरण अपनाने वाले लोग बढ़ते हुए ज्ञान की केवल उन्हीं लड़ियों को चुनते हैं-जो भी मनमाने और उचित सिद्ध न किये जा सकने वाले ढंग से जो उनके विचार से धर्मविधान जैसे बना दिये गये मार्क्सवाद का समर्थन करती हैं और शेष समस्त ज्ञानराशि को यदि प्रतिक्रियावादी नहीं, तो नगण्य समझती हैं। उनका व्यवहार सैद्धांतिक प्रयत्न का अवमूल्यन करने वाला तथा सृजनशीलता को हतोत्साह करने वाला होता है। यह व्यवहार समाजवाद को नकारने वाला आचरण है, क्योंकि यह ज्ञान के क्षेत्र में भी जनता को 'कर्ता' की भूमिका में आने से रोकता है। जो लोग सैद्धांतिक क्षेत्र में 'कर्ता' वाली भूमिका नहीं निभा सकते, वे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी 'कर्ता' वाली भूमिका नहीं निभा सकते। इसका तात्पर्य है कि मार्क्सवाद के प्रति धार्मिक श्रद्धाभाव न रखा जाये और उसे सारतः एक खुली हुई व्यवस्था मानकर चला जाये। दूसरे शब्दों में, वर्तमान को समझने का प्रत्येक प्रयास मार्क्सवाद की पुनर्रचना के द्वारा किया जाये। वर्तमान को समझने का प्रत्येक प्रयास एक सैद्धांतिक प्रयास होता है, जो किन्हीं प्रदत्त धर्मसिद्धांतों के बंद समुच्चय को 'लागू करने' पर आधारित प्रयास नहीं, अपितु मार्क्सवाद की पुनर्रचना का एक सर्जनात्मक प्रयास होता है। इस प्रयास का गलत या सही होना इस पर निर्भर नहीं करता कि वह मार्क्सवाद के प्रदत्त पाठ से विचलन है या नहीं। उसका सही होना इस पर निर्भर करता है कि वह हमें वर्तमान को समझने में समर्थ बनाता है या नहीं। इस प्रकार वह प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति, जो समाजवाद के काम को आगे बढ़ाता है, मार्क्सवाद की पुनर्रचना कर रहा होता है।

स्पष्ट है कि जब ऐसे प्रयास होंगे, तो मार्क्सवाद की अनेक पुनर्रचनाएँ होंगी और इस पर वाद-विवाद भी होगा कि उनमें से कौन-सी पुनर्रचना हमें वर्तमान को अधिक सही ढंग से समझने में समर्थ बनाती है। क्रांतिकारी पार्टी को वाद-विवाद के ऐसे समृद्ध वातावरण में ही कार्य करना चाहिए, क्योंकि यही वातावरण वर्तमान को समझने में की जाने वाली उसकी भारी गलतियों

से उसे बचा सकता है। मुक्त वैज्ञानिक वाद-विवाद क्रांतिकारी पार्टी के लिए प्राणवायु के समान है, जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकती। इसके लिए पार्टी की 'जनवादी केंद्रीयतावाद' की अवधारणा को पुनः परिभाषित करना पड़ेगा।

किन्तु क्या आज समाजवाद की कोई प्रासंगिकता है? इसका उत्तर लेनिन और रोजा लक्जेमबर्ग के समय में एक प्रश्न द्वारा ही दिया गया था समाजवाद या बर्बरता? यह प्रश्न आज के पूँजीवाद में पहले से भी ज्यादा सार्थक और प्रासंगिक है, क्योंकि दूसरे विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद को 'सुधारने' के जो उपाय कींसीय अर्थशास्त्र के आधार पर 'कल्याणकारी राज्य' के द्वारा किया गया था, यह उपाय बाजार को राज्य के ऊपर रखने वाले आज के पूँजीवाद ने स्वयं ही अप्रासंगिक बना दिया है। कुछ समय के लिए प्रतीत होता है कि पूँजीवाद सुधर गया है और वह 'मानवतावादी पूँजीवाद' बन गया है, जिससे समाजवाद जरूरी नहीं रह गया है, किन्तु अब उसकी कमियां पुनः संसार के सामने है। जिसे 'पूँजीवाद का स्वर्णयुग' कहा जाता था, वह समाप्त हो चुका है और इससे सिद्ध हो चुका है कि पूँजीवाद की 'स्वतःप्रवृत्ति' पर विजय पाना असंभव है। 'कल्याणकारी राज्य' के द्वारा पूँजीवाद को जीवित रखने का समय बीत चुका है। पूँजीवाद की अंतर्निहित प्रवृत्तियाँ पुनः उभर आयी हैं, जिनका एक रूप है पूँजी का केंद्रीकृत होते जाना, जिससे वित्त का भूमंडलीकरण होता है और वित्तीय पूँजी राष्ट्रीय न रहकर अंतरराष्ट्रीय हो जाती है। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की स्वेच्छाचारिता के आगे राष्ट्र राज्य विवश हो जाते हैं। उनकी सरकारें इस दबाव के आगे झुक जाती हैं कि वे लोगों को रोजगार, शिक्षा, चिकित्सा सुविधाएँ आदि देने पर होने वाले सरकारी खर्च में कटौती करें। वे डरती हैं कि ऐसा न करने पर वित्तीय पूँजी उनके देश से निकलकर चली जायेगी। इसलिए वे चाहे अनचाहे जन-विरोधी नीतियाँ अपनाने को विवश हो जाती हैं।

अतः 'कल्याणकारी राज्य' को दूसरे विश्व युद्ध के बाद की एक खास परिस्थिति में किये गये एक ऐसे उपाय के रूप में देखना चाहिए, जो पूँजीवाद को सुधारने और मानवीय बनाने का कोई स्थायी उपाय नहीं, अपितु संकटग्रस्त पूँजीवाद को राहत देने वाला एक तात्कालिक उपाय था। यह पूँजीवाद का कोई नियम नहीं, अपितु एक अपवाद था इसीलिए उस परिस्थिति के बदलते ही 'सुधरे हुए पूँजीवाद' को अलग दिया गया। इससे न केवल वैश्विक पूँजीवाद की वृद्धि-दरों में कमी आयी, न केवल बेरोजगारी बढ़ी, न केवल मजदूरों की वास्तविक आय में कमी हुई, अपितु उस 'स्वर्णयुग' के समाप्त होते ही उपनिवेशों को समाप्त करने की दिशा में जाने वाली प्रवृत्ति भी उलट गयी और साम्राज्यवाद फिर से दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों को विशेष रूप से तेल खनिज संसाधनों आदि को हड़प लेने के निश्चयात्मक उपाय करने लगा। उसके द्वारा फिर से अपने उपनिवेश बनाये जाने के इस प्रयास में तीसरी दुनिया के वे बड़े पूँजीपति उसका साथ दे रहे हैं, जिन्होंने कभी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों में अपने-अपने देश की जनता का नेतृत्व किया था। आज वे अपनी उस भूमिका से विपरीत जाकर अपने लोगों के हितों के विरुद्ध साम्राज्यवाद के सहयोगी बन गये हैं।

तीसरी दुनिया के भारत जैसे देशों की जनता आज स्वयं को पुनः उस स्थिति में पा रही है, जो आजादी से पूर्व के दिनों की याद दिलाती है-कृषि पर आया हुआ घोर संकट, प्राथमिक पण्यवस्तुओं के उत्पादकों की दुर्दशा, कॉर्पोरेट हितों द्वारा किसानों की जमीनों का हड़पा जाना, छोटे उत्पादकों का धीरे-धीरे अतः और पूँजी संचय के आदिम तरीकों को खुली छूट।

चूंकि इस सबके साथ-साथ रोजगार में कोई खास वृद्धि नहीं हो रही है, इसलिए बेरोजगारी, बदहाली, भूख, गरीबी और असुरक्षा निरंतर बढ़ रही है। पूँजीवाद के 'सुधार' की सारी बातें व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं।

किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था को बदलकर समाजवादी व्यवस्था कायम करने का कोई बना-बनाया तरीका आज की दुनिया में किसी के सामने नहीं है। ('रूसी मॉडल' की क्रांति हो या 'चीनी मॉडल' की, यह बहस पुरानी और निरर्थक हो चुकी है।) अतः आज की दुनिया के सामने खास तौर से भारत जैसे देशों के सामने समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ना एक समस्या बना हुआ है। इस समस्या का समाधान भविष्य की कल्पना करने से नहीं, अपितु वर्तमान को यथार्थपरक ढंग से समझने से निकलेगा।

वर्तमान परिस्थिति संक्षेप में यह है कि भारत जैसे देशों का पूँजीपति वर्ग, जिसने कभी उपनिवेशवाद तथा सामंतवाद के परस्पर जुड़े हुए उत्पीड़नों से मुक्ति के संघर्ष में अपनी जनता का नेतृत्व किया था, जो उस संघर्ष के परिणामस्वरूप बनी जनतांत्रिक संस्थाओं के बनने और 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' के उभरने का साक्ष्य रहा था, उसे अब जनता पर अपना शासन सुदृढ़ करने के लिए उन्हीं शक्तियों का समर्थन पाने की जरूरत पड़ रही है, जिनके विरुद्ध उसने संघर्ष किया था। ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अब तक जनतंत्र और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं हुई। किन्तु यह प्रगति भले ही पूँजीवादी जनतंत्र की सीमाओं से आगे न बढ़ पायी हो, पूँजीपति वर्ग ने सदैव उसे नकारने और रोकने का काम किया है। और भूमंडलीकरण, जिसे कई लोग स्वतंत्रता और जनतंत्र को बढ़ाने-फैलाने का साधन समझते हैं, इसके ठीक विपरीत भारत जैसे देशों में, जहाँ उत्तर-औपनिवेशिक काल में जनतांत्रिक संस्थाएँ काम करती रही हैं, जनता द्वारा उपलब्ध किये गये जनतांत्रिक लाभों को संकुचित करने का काम कर रहा है। उदाहरण के लिए, पहले भी समाज में गैर-बराबरी तो थी, किन्तु कानून की नजर में अमीर-गरीब सब बराबर माने जाते थे। परन्तु अब आय और संपदा में गैर-बराबरी इतनी अधिक बढ़ गयी है कि व्यावहारिक रूप में उस कानूनी बराबरी का भी कोई तात्पर्य नहीं रह गया है। असमानता के इतनी तेजी से बढ़ने का कारण है पूँजी-संचय की प्रक्रिया में परिवर्तन ।

पूँजीवाद के अंतर्गत पूँजी-संचय दो प्रकार से होता है- 'विस्तार के द्वारा' और 'अतिक्रमण के द्वारा'। 'विस्तार के द्वारा' किये जाने वाले पूँजी-संचय में पहले से संचित पूँजी में नयी पैदा की गयी पूँजी जुड़ती है, जबकि 'अतिक्रमण के द्वारा' किये जाने वाले पूँजी-संचय में पूँजीवाद से पहले के उत्पादकों की परिसंपत्तियों को, या राजकीय क्षेत्र की परिसंपत्तियों को, अथवा सबकी साझी संपत्तियों को पूँजीपतियों द्वारा मुफ्त में या नाममात्र के मूल्यों पर ले लिया जाता है।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की तीन प्रमुख बातें हैं। पहली यह कि इसमें 'अतिक्रमण के द्वारा' किये जाने वाले पूँजी-संचय का महत्त्व बढ़ गया है और इसके कारण गैर-बराबरी, जो 'सामान्य' अथवा 'विस्तार के द्वारा' किये जाने वाले पूँजी-संचय से इतनी न बढ़ती, जो तेजी से बढ़ रही है। जनतंत्र का मूल सिद्धांत बराबरी है। अतः स्पष्ट है कि गैर-बराबरी जितनी ज्यादा बढ़ेगी, जनतंत्र उतना ही कम होता जायेगा।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की दूसरी प्रमुख बात यह है कि इससे आर्थिक गैर-बराबरी तो बढ़ती ही है, पहले से मौजूद सामाजिक गैर-बराबरी और ज्यादा प्रबल होती जाती है। इसका राजनीतिक असर इस रूप में दिखायी पड़ता है कि जनता द्वारा अपने संघर्षों के द्वारा प्राप्त किये गये जनतांत्रिक लाभ उससे वापस छीने जाने लगते हैं। जैसे राजकीय क्षेत्र के उत्पादन, शिक्षण और प्रशिक्षण आदि में कमी होने का परिणाम यह होता है कि दलितों, आदिवासियों, पिछड़ी जातियों आदि के लोग उसी कमी के अनुपात में सरकारी नौकरियों, शिक्षा और प्रशिक्षण आदि की सार्वजनिक सेवाओं से वंचित हो जाते हैं।

उत्तर-औपनिवेशिक राज्य ऐसे व्यक्तियों को आरक्षण तथा अन्य सुविधाएँ और सहायताएँ देकर आगे बढ़ाना अपनी जिम्मेदारी समझता था। परन्तु भूमंडलीकरण के दौर में सार्वजनिक क्षेत्र के घटने और निजी क्षेत्र के बढ़ने की प्रक्रिया के तहत (और सब कुछ बाजार पर छोड़ देने की नव-उदारवादी नीतियों के तहत) राज्य ने स्वयं को इस जिम्मेदारी से बहुत सीमा तक अलग कर लिया है और निजी क्षेत्र इस उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए कभी तैयार होगा नहीं। पूर्व में जो नौकरियों ऐसे व्यक्तियों को मिल जाती थीं, अब समाज के ऊपरी तबकों के लोग उन्हें हथिया लेते हैं। पहली दृष्टि में लगता है कि यह तो 'सबके लिए समान अवसर' जैसी बात है और 'मैरिट' के आधार पर प्रतिस्पर्द्धा में दूसरों से बाजी मार ले जाना बड़ा न्यायोचित है, किन्तु वास्तव में यह चीज सामाजिक असमानताओं को बढ़ाती है और उसका तात्पर्य होता है जनता से उसके जनतांत्रिक अधिकारों का वापस छीना जाना।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की तीसरी विशेष बात यह है कि इसके साथ धार्मिक, क्षेत्रीय और एथनिक आधारों पर लोगों को बाँटकर आपस में लड़ाने की प्रक्रियाएँ बढ़ती हैं और तेज हो जाती हैं। इसके पीछे मुख्य कारण होता है बढ़ती हुई बेरोजगारी, क्योंकि बेरोजगार लोगों को यह कहकर भड़काना आसान होता है कि तुम्हें मिल सकने वाली नौकरियाँ दूसरे धार्मिक समुदायों या दूसरे एथनिक समूहों या दूसरे क्षेत्र के लोगों द्वारा 'तुमसे छीनी जा रही हैं'। इस आधार पर फासीवादी, नव-फासीवादी तथा अर्द्ध-फासीवादी आंदोलन आसानी से चलाये जा सकते हैं। ये आंदोलन जनता में फूट तो डालते ही हैं, मतदाताओं की सामूहिक इच्छा के दबाव में राज्य के हस्तक्षेप द्वारा किये जाने वाले उन परिवर्तनों को भी असंभव बना देते हैं, जो समाज को प्रभावित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त ये आंदोलन आम जनता में असुरक्षा की भावना पैदा करते हैं और निशाना बनाये गये, अल्पसंख्यकों को बलपूर्वक 'दूसरे दरजे का नागरिक' बना देते हैं, जो स्वतंत्रता और जनतंत्र की किसी भी अवधारणा के विरुद्ध है। जनता में ऐसे विभाजन पहले भी थे, परन्तु भूमंडलीकरण ने उन्हें प्रतिदिन दिखायी देने वाली चीज ही नहीं, भूमंडलीय अर्थव्यवस्था की संरचना का हिस्सा भी बना दिया है।

अतः समाजवाद सदैव की तरह आज भी प्रासंगिक है और जब तक समाजवादी आंदोलन गति नहीं पकड़ता, तब तक साम्राज्यवाद के विरुद्ध लोगों का क्रोध आतंकवाद जैसे हिंसक, विध्वंसक, अमानवीय तथा अनुत्पादक रूपों में व्यक्त होता रहेगा। आज का साम्राज्यवाद आतंकवादियों के उतने ही निर्दय समूहों से निरंतर चलने वाली जिस लड़ाई में उलझा हुआ है, उससे समूची मानव सभ्यता के ही नष्ट हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। अतः आज चुनाव दो स्थितियों के बीच करना है हम इस बर्बरता को सहन करते रहें या उस व्यवस्था को ही बदलें, जो साम्राज्यवाद और उसके 'अन्य' आतंकवाद को पैदा करती है।

स्पष्ट है, नये समाजवाद के आने में समय लगेगा, क्योंकि पुराने समाजवाद के आने के समय के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद से आज का पूँजीवाद और साम्राज्यवाद बहुत भिन्न है। परन्तु 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' के एक इंटरव्यू में कही गयी जार्ज लुकाच की इस बात को याद किया जा सकता है कि जिस तरह सामंतवाद से पूँजीवाद तक आने में दुनिया को 300 वर्ष लगे थे, उसी तरह पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण भी लंबा समय लेगा। यद्यपि इस बात को ध्यान में रखा जाये, तो सोवियत संघ का विघटन और चीन में इधर आयी हुई विकृतियाँ एक लंबे संक्रमण काल के छोटे-छोटे उपाख्यान प्रतीत होंगे। परन्तु मानवता के भविष्य में विश्वास रखने वाला कोई भी व्यक्ति मानेगा कि यह संक्रमण होगा अवश्य।

संदर्भ सूची

- मार्क्स, कार्ल खंड) ए क्रिटिक ऑफ़ पॉलिटिकल इकोनॉमी :कैपिटल :1) संस्करणपुनर्मुद्रित संस्करण : प्रकाशक : पेंगुइन क्लासिक्स वर्ष :1992, लंदन
- वेबर, मैक्सद प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म : संस्करणद्वितीय संस्करण : प्रकाशकरूटलेज : वर्ष : 2001, लंदन और न्यूयॉर्क
- फ्रीडमैन, मिल्टनकैपिटलिज़्म एंड फ्रीडम : संस्करण :40वीं वर्षगांठ संस्करण प्रकाशकयूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो : प्रेस, वर्ष :2002, शिकागो
- पिकेटी, थॉमसइक्कीसवीं सदी में पूँजी :, संस्करण(अंग्रेज़ी) पहला संस्करण : प्रकाशक हार्वर्ड) बेल्कनैप प्रेस : यूनिवर्सिटी प्रेस(, वर्ष :2014, कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स
- एशुम्पीटर ., जोसेफपूंजीवाद :, समाजवाद और लोकतंत्र, संस्करणतीसरा संस्करण :, प्रकाशकहार्पर पेरेनियल मॉडर्न : थॉट, वर्ष :2008 (मूल 1942), न्यूयॉर्क
- कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो, संस्करणपुनर्मुद्रण संस्करण :, प्रकाशकइंटरनेशनल : पब्लिशर्स, वर्ष :1998 (मूल 1848), न्यूयॉर्क
- लक्ज़मबर्ग, रोज़ा, सुधार या क्रांति, संस्करणपुनर्मुद्रण :, प्रकाशकडोवर प्रकाशन :, वर्ष :2006, माइनोला, न्यूयॉर्क
- हीलब्रोनर, रॉबर्ट, समाजवादअतीत और भविष्य :, संस्करणसंशोधित संस्करण :, प्रकाशकनॉर्टन एंड .डब्ल्यू .डब्ल्यू : कंपनी, वर्ष :1992, न्यूयॉर्क
- ऑरवेल, जॉर्ज, द रोड टू विगन पियर, संस्करणपुनर्मुद्रित संस्करण :, प्रकाशकमेरिनर बुक्स :, वर्ष :1972, बोस्टन
- हैरिंगटन, माइकल, समाजवादअतीत और भविष्य :, संस्करण प्रथम :संस्करण, प्रकाशकआर्केड पब्लिशिंग :, वर्ष : 1989, न्यूयॉर्क
- रॉय, अरुंधति, पूँजीवाद :वर्ष ,हेमार्केट बुक्स :प्रकाशक ,प्रथम संस्करण :संस्करण ,दि घोस्ट स्टोरीज :2014शिकागो ,
- सेनऑक्सफ :प्रकाशक ,पुनर्मुद्रण संस्करण :संस्करण ,विकास के रूप में स्वतंत्रता ,अमर्त्य ,ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस , :वर्ष2000नई दिल्ली ,

- नागर.डी .ए ,, भारत में समाजवाद :वर्ष ,अनमोल प्रकाशन :प्रकाशक ,प्रथम संस्करण :संस्करण ,1991नई दिल्ली ,
- एडम, स्मिथ, एन इन्क्वायरी इन्टू दि नेचर एंड कॉज ऑफ दि वेल्थ ऑफ़ नेशन ,Digireads.com, प्रकाशन, 2019 , मूल रूपसे 1776 में प्रकाशित।